REVIEW OF RESEARCH
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF) UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514 ISSN: 2249-894X
VOLUME - 8 | ISSUE - 2 | NOVEMBER - 2018

बाल अपराधियों तथा उनके परिवार का समाजशास्त्रीय अध्ययन

नंदाणिया परबत वीरा.
बी.ए., बी.एड., एम.ए., एम.फिल.

सारांश

बाल अपराध सामाजिक–वैधानिक घटना है। 18 वर्ष से कम आयु के बच्चों का प्रचलित सामाजिक व्यवहार प्रतिमानों या राज्य के कानून का उल्लंघन कर साध्यों की पूर्ति करना आपराधिक क्रिया है। समाज स्वीकृत संस्थागत साधनों तथा सांस्कृतिक साध्यों के बीच असामंजस्य की स्थिति विचलन को बढ़ावा देती है। सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण, संवर्धन व निरन्तरता को बनाये रखने में बच्चों का समाजीकरण अपरिहार्य प्रक्रिया है। परिवार समाजीकरण का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। नगरीय समुदायों में बाल अपराधों की विद्यमानता, परिवारों के समाजीकरण के उत्तरदायित्व को पूरा न कर पाने की ओर संकेत करती है। नगरीय जीवन के दवाबों में परिवार बच्चों को अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करने में असफल है। प्रस्तुत शोध कार्य बाल अपराधियों तथा उनके परिवारों का समाजशास्त्रीय अध्ययन राष्ट्र के सुधार गृहो में रह रहें बच्चों तथा उनके परिवारों पर आधारित है।

प्रस्तावना–

मनुष्य एक सृजनशील प्राणी है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता व सुगमता से करने के लिए नई–नई तकनीकी खोज करता रहता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति एक ओर समाज में विकास और प्रगति लाती है दूसरी ओर समाज की पुरातन मान्यताओं, मूल्यों और आदर्शों से असमांजस्य उत्पन्न करती है। सामाजिक विकास के साथ विचलन की प्रवृत्तियाँ भी साथ–साथ चलती है। कुछ व्यक्ति जीवन को सुलभ बनाने के लिए नये–नये अन्वेषण कर प्राचीन तकनीकी से विरोध उत्पन्न करते हैं वहीं कुछ लोग सामाजिक साधनो, लक्ष्यों के साथ सामंजस्य नहीं बिठाने के कारण विद्यटन को बढ़ावा देते हैं। अपराधी प्रवृत्तियां सामाजिक विद्यटन के एक प्रकार के रूप में हमेशा समाज में विद्यमान रहती है क्योंकि व्यक्ति सामाजिक परिवर्तन के साथ–साथ अपनी अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन नहीं कर पाता। लिखित साहित्य के रूप में अपराध और दण्ड के विषयों में ईसवी पूर्व से वर्तमान काल तक कुछ न कुछ वर्णन अवश्य मिलता है। भारतीय समाज के विषय में मनु ने मनुस्मृति में और कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में तत्कालीन समाज में प्रचलित दण्ड विधि का वर्णन किया है।

वास्तविकता यह है कि बाल–अपराधियों अथवा बालकों के समुचित एवं स्वस्थ विकास की समस्रा प्रत्यके समाज के लिए एक मौलिक एवं अत्यन्त ही गम्भीर समस्या है। इसका महत्व वह समाज, अपेक्षतया अधिक समझ सकता है जिसके पास अतीत की एक समृद्धिशाली संस्कृति की निधि है और जिसका सामाजिक संगठन प्राचीन काल से चला आ रहा है। भारतीय समाज इस प्रकार के अध्ययनों के लिए एक अच्छा क्षेत्र प्रस्तुत करता है और अन्य समाजों को, जिनका प्रादुर्भाव बहुत याद में हुआ है, उन्हें इन अध्ययनों से समस्याओं के कारणों को समझने में आधार प्राप्त होगा लेकिन आजकल यह हो रहा है कि दूसरे समाज अपनी इस कमी को छिपाने के लिए अपने अध्ययनों से निकाले गये दोष पूर्ण निष्कर्षों को हमारे समाज पर लादने का प्रयास करते हैं।

आज पाश्चात्य समाजों में अपराध और बाल–अपराध बढ़ रहा है। इसका मूल उस सामाजिक ढाँचे में देखा जा सकता है जिसको पाश्चात्य समाजों ने अपरिभाषिक एवं अप्रतिमानित रूप में छिन्न–भिन्न तरीके से विकसित किया है।

पाश्चात्य समाज के द्वारा अतीत की कोई सुन्दर निधि नहीं है। उनके यहाँ कोई स्थिर मूल्य–व्यवस्था भी नहीं है। वह गतिशीलता में विश्वास करते हैं, और अपने को एक गतिशील समाज का अंग बताने में गौरव का अनुभव करते हैं। इन समाजों में इतनी अधिक गतिशीलता है कि कोई भी मूल्य अथवा आदर्श स्थिर नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में, हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि इन समाजों में स्वस्थ एवं अनशासित व्यवहार पाया जायें। वहाँ प्रतिमानित व्यवहार की परम्परायें ही नहीं है। इनके यहाँ सम्पूर्ण व्यवहार एक वर्ग का दूसरे वर्ग के द्वारा अनुकरण है। इस अनुकरण की प्रक्रिया में प्रतियागिता स्वाभाविक है, क्योंकि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था प्रतियोगिता एवं प्रतिस्पर्धा पर आधारित है। संतोष नाम की कोई धारणा इनके यहाँ नहीं है। व्यक्तियों के सामने कोई अन्तिम उद्देश्य नहीं है जिससे कि वे अपने व्यवहार को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करें। इस रूप मे, यह कहने में बिल्कुल भी संकोच नहीं है कि पाश्चात्य देशों की भौतिकवादी संस्कृति निरन्तर अपराध एवं पतन की ओर बढ़ने वाली संस्कृति है। इसमें किसी एक अथवा कुछ कारणों के संयोग को किसी एक समस्या अथवा अनेक समस्याओं के लिए उत्तरदायी ठहराने का प्रयत्न सर्वथा अनुचित एवं मूर्खतापूर्ण है। इससे भी अधिक मूर्खतापर्ण इनके निष्कर्षों को अपनी संस्कृति पर लादने का प्रयत्न है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति में एक स्थिर सामाजिक व्यवस्था हजारों वर्ष पूर्व बड़े–बड़े ऋषियों, महर्षियों तथा उन महापुरूषों द्वारा बनाई गई है, जिन्होंने जप–तप से हजारों वर्षों के अनुसंधान अनुभव से भविष्य को समझ लेने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। सामाजिक व्यवस्था इतनी कठोर एवं दोष रहित बनाई गई कि आज तक भी इसको विश्व की कोई शक्ति छिन्न–भिन्न नहीं कर सकीं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार शिशु और इसी शिशु के इर्द–गिर्द इसको विकसित एवं परिभाषित किया गया। समस्या थी कि जब शिशु इस संसार में प्रथम चरण रखता है तब इसका कैसे पालन–पोषण किया जाए? शिशु की कल्पना ने पति–पत्नी के सम्बन्धों की आदर्श व्यवस्था को विकसित किया, इसकी आवश्यकता एवं महत्व को सामने रखा। लेकिन केवल पति–पत्नि ही इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकते थे, इसके लिए एक बड़े परिवार की आवश्यकता थी जिसमें सभी प्रकार के व्यक्ति हो, जो सभी प्रकार के सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करते हो यह बात विचारी गई कि परिवार वाले इस शिशु का किस प्रतिमान के अनुसार विकास करें, कहीं ऐसा न हो कि इसकी आकांक्षायें सही रूप में विकसित न होने पायें और वह बड़ा होकर स्वयं उसी परिवार के विरोध में न खड़ा हो जाए जिसने इसको विकसित किया। इसलिए आचार–व्यवस्था की एक नैतिक व्यवस्था भी स्थापित की गई। फिर भी वह यह सम्भावना हो सकती थी कि शिशु अपेक्षा में भटक जायें और स्वयं अपनी ही अपेक्षाओं का शिकार हो जायं। समाज ने उसके जीवन के सामने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की एक ऐसी व्यवस्था रख दी ताकि वह अपने जीवन में एक निश्चित मार्ग पर चल सकें और उस अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करे, जिसको प्राप्त करना उस प्रत्यके व्यक्ति का उद्देश्य हो जो स्वर्ग जाना चाहता है।

स्वर्ग–नरक की धारणायें किसी मूर्ख के दिमाग की उपज नहीं थी। इन धारणाओं के साथ जन्म–मरण की धारणायें जुड़ी हुई थी। इसी के साथ जुड़ी हुई थी पुनर्जन्म की धारणा। यह पुनर्जन्म की धारणा, स्वर्ग जाने की इच्छा तथा नरक में जाने का भय व्यक्ति को अपने निश्चित मार्ग में चलने के लिए प्रेरित करती। इतना ही नहीं समाज को किन्हीं कठोर भागों में बाँट दिया गया और प्रत्यके शिशु के व्यक्तित्व का विकास इसी कठोर दायरें में होना निश्चित किया गया। ताकि वह गलत अभिलाषायें न पोषित करें और न ही निराशाओं का शिकार होने पाये। निराशा के क्षणों में भगवान का ध्यान करना बताया गया और दुखों का पहाड़ टूट पड़ने पर ऐसी विधियों की व्यवस्था की गई जो पूर्णतया धार्मिक थी। इनका अभिप्राय यही था कि व्यक्ति इधर–उधर भटकने से बचा रह। विकास की प्रक्रिया ने धार्मिक प्रभावों को कम किया है और भौतिकवादी मूल्यों को बढ़ावा दिया है। उन्नत संचार–साधनों, प्रौद्योगिकी और आर्थिक विकास ने परम्परागत सामाजिक सम्बन्धों, मूल्यों व व्यवहार प्रतिमानों पर आघात किया है। प्रतियोगिता के इस युग में भारत भी अनेक सामाजिक समस्याओं से जूझ रहा है बाल–अपराध भी उनमें से एक मुख्य समस्या है जो मुख्यतया नगरों से अधिक सम्बन्धित है।

समाज में सामंजस्य उत्पन्न करने वाली सामाजिक शक्तियाँ हमेशा विद्यमान रही है। जब लोग व्यक्तिगत और सामूहिक जरूरतों की पूर्ति के लिए एक स्थान पर जमा होते हैं, वे व्यवहार को निर्धारित करने

की सीमा तय करते हैं और नियम बनाते हैं। परन्तु समाज में ऐसे भी लोग होते हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत नियमों व कानूनों का पालन नहीं करते। प्रत्यके समाज अपने विकास की प्रक्रिया में वांछित आचरण के मूल्यों और आदर्शों का विकास करता है इन्हीं में से कुछ आदर्शों को नियमों के रूप में संहिता–बद्ध कर लिया जाता है। राज्य इन नियमों के उल्लघंन पर दण्ड की व्यवस्था करता है। अपराध ऐसा समाज–विरोधी आचरण है जिससे जनभावनाओं को इतनी चोट पहुँचती है कि कानून इसकी इजाजत नहीं देता। अपराध अवांछित आचरण के सम्पूर्ण दायरें का एक विशिष्ट हिस्सा है। अनैतिक आचरण का एक बड़ा भाग ऐसा भी होता है जिस पर कानूनी रूप से सजा नहीं हो सकती ऐसे व्यवहार पर समाज स्वयं नियत्रंण करता है।

आर्नोल्ड जे0 टॉयनबी (1921) ने अपनी पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री' में लिखा है कि ''सभ्यता का सम्पूर्ण इतिहास मानव की सर्वोत्कृष्ट कुशलता के प्रति भौतिक, यान्त्रिक, नैतिक और बौद्धिक चुनौतियों का इतिहास है, जिससे प्रत्येक प्रकार की चुनौती ने मनुष्य के विचारों और क्षमताओं के अद्भुत संगठन की मांग की है। जब इन चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर लिया जाता है तब समाज जनहित के नये और ऊँचे स्तरों की ओर बढ़ता है, और जब ऐसा नहीं होता तब समाज में प्रायः पतन और अवरोध के लक्षण दिखायी पड़ते हैं।'' टॉयनबी के इस कथन से स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज प्रत्येक समय में लगभग एक चुनौती की स्थिति में होता है और मानव अपनी पूरी विचार शक्ति एवं शारीरिक शक्ति का प्रयोग करके उस चुनौती का सामना करता रहता है। सामाजिक समस्याएं चुनौती–को–चुनौती की इस प्रक्रिया में अपना सिर ऊँचा करती है किसी भी समाज के लिए, सामाजिक समस्याओं का हल ढूँढना अनिवार्य हो जाता है।

राबर्ट ए. निसबेट (1934) ने लिखा है कि सामाजिक समस्याओं का नैतिक मूल्यों व सामाजिक संस्थाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है इन्हें सामाजिक इसलिए कहा जाता है कि इसका सीधा सम्बन्ध मानवीय सम्बन्धों व आदर्शात्मक सन्दर्भों से होता है जिनमें समस्त मानवीय सम्बन्ध निहित है इन्हें समस्यायें इसलिए कहते हैं क्योंि क यह वांछित अथवा अभिलक्षित योजनाओं में उत्पन्न बाधाओं का प्रतिनिधित्व करती है। समाज द्वारा परिभाषित उचित लक्षणों एवं कार्य विधियों के उल्लंघन को बतलाती है, उन सामाजिक प्रतिमानो और सम्बन्धों की अव्यवस्था की ओर संकेत करती है जिनको एक समाज महत्वपूर्ण समझता है। सामाजिक समस्या वास्तव में ''मानवीय सम्बन्धों की एक समस्या है जो स्वयं समाज के अस्तित्व को एक वास्तविक खतरे में डाल देती है अथवा जनता के किन्हीं महत्वपूर्ण अभिलाषित उद्देश्यों की पूर्ति में बाधा उत्पन्न करती है।''

इन विद्वानों के विचारों में कोई भी सामाजिक समस्या उस समय सामने आती है जब संगठित समाज व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों में व्यवस्था करने में असफल सिद्ध होता है जब इसकी संस्थाओं में दोष आ जाता है जब इसके बनाये हुए नियमों का पालन नहीं हो पाता, जब इसमें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होने वाले मूल्यों का क्रम टूट जाता है और जब उसकी अभिलाषाओं का स्वरूप बिखर जाता है।

गिलिन व गिलिन ने सामाजिक व्याधिकी के लिए संस्कृति की ऐसी स्थिति को उत्तरदायी माना जिसमें व्यक्ति अपनी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई का अनुभव करने लगें। इस प्रकार की आवश्यकताएं जैवकीय अथवा सामाजिक परिवर्तनों का परिणाम हो सकती है जैवकीय आवश्यकताओं में भोजन तथा जीवन निर्वाह के दूसरे साधनों की आवश्यकताओं को ले सकते हैं। सामाजिक आवश्यकताओं में हम समाज में प्रतिष्ठा, स्वीकृति, अनुमोदन, प्रत्युत्रर और पद पाने की आवश्यकताओं को ले सकते हैं। एक ओर जनंसख्या वृद्धि और खाद्यान्नों की कमी से जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई उत्पन्न हुई है तो दूसरी और सामाजिक प्रतिष्ठा तथा पहचान की स्वीकृति ने सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति को विकट बना दिया है। आज विद्यार्थी शिक्षक से, मजदूर स्वामी से प्रतिष्ठा व मान की अपेक्षा करता है। आर्थिक व्यवस्था में व्याधिक स्थिति गरीबी, धन के वितरण की असमानता, बेकारी, भूखमरी सम्पत्ति अपहरण, भीखमंगी, अवसरो की न्यूनता, भोज्य पदार्थों का अभाव इत्यादि में देखी जा सकती है। सरकारी संस्थाओं में व्याधिक स्थिति राजनैतिक–संघर्षो, प्रशासनिक दोषो, सरकारी दुराचारों, घूसखोरी, भाई–भतीजावाद, दोषपूर्ण कर प्रणाली, नौकरशाही, प्रजातान्त्रिक नियमों की अवहेलना इत्यादि के रूप में देखी जा सकती है।

सामुदायिक क्षत्रे में व्याधिक स्थिति बाल–अपराध, चोरी, डकैती, लूटमार, हत्यायें तथा अन्य प्रकार के अपराधों में शैक्षणिक व्यवस्था में उचित प्रशिक्षण के अभाव, अनुशासनहीनता, कर्तव्य विमुखता, व्यक्तित्व विकास के दोषों आदि में धार्मिक संगठनों में व्यक्ति और धर्म के बीच सम्बन्धों की कड़ी टूट जाने में देखी जा सकती है।

नैतिक क्षेत्र में– व्यक्तियों तथा समूहों का नैतिक पतन हो जाना, अनैतिक तरीकों से जीविका कमाना, यौन आवश्यकताओं की पूर्ति करना, यौन व्यवहार करना इत्यादि।

परिवार में– सदस्यों पर से पारिवारिक अनुशासन का ढीला पड़ जाना पारिवारिक मूल्यों को न मानना, मनमानी करना, अधिकार प्रतिमानों की अवहेलना करना, सम्बन्धों में कटुता आना, कलह व संघर्ष का वातावरण पाया जाना इत्यादि रूपों में सामाजिक व्याधि देखी जा सकती है।

सामाजिक संगठन

प्रत्येक समाज, समुदाय अथवा सामाजिक समूह व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखकर सामाजिक मूल्यों व आदर्शों के अनुरूप नियमित कर अधिकतम व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करता है। सामाजिक संगठन, संस्थाओं, समितियों, एजेन्सियों आदि में सामंजस्यता की स्थिति को प्रदर्शित करता है। सामाजिक संगठन को समझने के लिए सामाजिक तथा संगठन शब्दों को पृथक रूप से समझ लेना अनिवार्य है। सामाजिक शब्द का अर्थ है दो अथवा अधिक व्यक्ति, जो अन्तःक्रियारत हा।

समाज शब्द का प्रयोग भी हम अन्तःक्रियाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों के जाल के लिए करते हैं। संगठन से हमें किसी इकाई की ऐसी संरचना का बोध होता है जिसमें सुव्यवस्था पाई जाती है। अर्थात् जिनकी इकाईयाँ एक सूत्र में आबद्ध है। जब समाज की इकाईयाँ नियमित तथा क्रमबद्ध होकर प्रकार्यात्मक सम्बन्धों द्वारा सुव्यवस्था का निर्माण करती है तो माना जाता है कि समाज मेंसंगठन स्थापित है।

इलियट एवं मैरिल (1974) के अनुसार, सामाजिक संगठन वह स्थिति है जिसमें समाज की विभिन्न संस्थाएँ अपने स्वीकृत या उपलक्षित उद्देश्य के अनुसार कार्य करती हैं।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ (1922) के अनुसार, संगठन विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न अंगों का संयुक्तिकरण है यह कुछ करने हेतु एक प्रभावशाली समूह युक्ति है।

जोन्स (1975) के अनुसार, सामाजिक संगठन वह व्यवस्था है जिसमें समाज के विभिन्न भागों में व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं और समितियों में परस्पर तथा सम्पूर्ण समाज में एक सार्थक सम्बन्ध स्थापित होता है। सामाजिक संगठन का अर्थ किसी भी ढाँचे के अन्तर्गत एक से ज्यादा निर्माणक इकाइयों की उस निश्चित प्रतिमानात्मक पारस्परिक सम्बद्धता से है जो कार्यों के आधार पर उन्हें एक सूत्र में बांधने के लिए प्रेरित करती है और उसे गतिशील बनाती है। हम जानते हैं कि समाज में प्रत्यके इकाई अपना अलग–अलग प्रकार्य करते हुए भी एक दूसरे को प्रभावित करती है तथा परस्पर निर्भर हाते ी है। इस निर्भरता और प्रभावशीलता के कारण ही वे परिवर्तित दशाओं में अनुकूलन करने के योग्य होती है और समाज की यही स्थिति सामाजिक संगठन कहलाती है। परन्तु समाज निरन्तरता के साथ परिवर्तनशील भी है। सामाजिक परिवर्तनशीलता आधुनिक युग में परिवारों, स्थानीय समुदायों, संस्थाओं, मूल्यों आदि में परिवर्तन कर रही है। सामाजिक संगठन द्वारा परिवर्तनशील समाज में संतुलन बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक संगठन को बनाए रखना प्रत्येक समाज का मुख्य लक्ष्य है ताकि तीव्र सामाजिक परिवर्तनों के दुष्परिणामों से बचा जा सके और परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था के लिए किसी भी प्रकार का खतरा पैदा न कर सकें। तथापि कोई भी समाज ऐसा नही है जिसमें कुछ न कुछ मात्रा में सामाजिक विघटन न हा। चाहे जिस दृष्टि से देखा जाए सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामाजिक संघटन से अवश्य रहता है। प्रायः यह भी देखा गया है कि सामाजिक परिवर्तन समाज के सन्तुलन को बिगाड़ता है। समाज के संघटन को संतुलित रखने और समाज के विभिन्न तत्वों में सामंजस्य बनाए रखने के काम में सामाजिक निन्त्रण का बड़ा महत्व है। सामाजिक नियन्त्रण में जनरीतियाँ, प्रथाएं, प्रवृत्तियाँ, मान्यताएँ एवं विचार आते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के ये साधन, जिनका प्रयागे समूह व्यक्तियों पर करता है, व्यक्तियों के व्यवहारों को एक निश्चित मात्रा में सुसंगत बना देते हैं और उन्हें स्थिरता प्रदान करते हैं। संस्कृति का भौतिक पक्ष जल्दी बदलकर व्यक्ति के आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों पर आघात करने लगता है। सामाजिक संस्थाएँ स्वयं भी कुछ नियन्त्रण की शक्ति रखती हैं इसलिए जब कभी भौतिक पक्ष का परिवर्तन तेजी पकड़ता है और संस्थाएँ अपने नियन्त्रण को कड़ा करती है तो सन्तुलन में कठिनाई होने लगती है समाज की मुख्य संस्थाएँ हैं– परिवार, विद्यालय, धार्मिक संस्थाये, राज्य और आर्थिक संगठन। धार्मिक आचार सहिताओं के साथ जो धार्मिक विचार जुड़े हुए हैं वे एक निश्चित कठोरता दिखलाते हैं। इसी प्रकार परिवर्तन के प्रति राज्य और संयुक्त परिवार प्रथा भी विरोध प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ यह कहना कठिन है कि समाज के अधिकांश अथवा सत्ता सम्पन्न समूह द्वारा आरोपित नियम कहाँ तक सम्पूर्ण समाज के लिए लाभकारी सिद्ध हाते हैं। परन्तु सामाजिक संघटन को अपेक्षतया स्थायी रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्य उन नियमों का पालन करें जिन्हें समाज ने एक बार बना दिया है। समाज तभी स्थिर रह सकता है जब इसके अधिक से अधिक व्यक्ति अधिक से अधिक विषयों पर अधिक से अधिक सहमत हो और होने वाली बातों का एक सा प्रभाव पड़े। जब व्यक्ति इसको खाने लगते हैं तो परिणामस्वरूप सामाजिक विघटन आने लगता है। जब किसी समाज के सदस्य आधारभूत परिस्थितियों के विषय में एकमत हो तो यह समझना चाहिए कि संगठन है। इसके विपरीत समाज की परिस्थितियों के विषय में जब जनसाधारण असन्तुष्ट हो तो स्पष्ट है कि सामाजिक विघटन के बीज बाऐ जा चुके हैं।

सम्पूर्ण समाज के दो पक्ष हैं– एक सामाजिक संघटन और दूसरा सामाजिक विघटन। सामाजिक विघटन एक सापेक्षिक तत्व है और इसको बिना सामाजिक संघटन के नहीं समझा जा सकता है। जिस प्रकार सामाजिक संगठन की कई स्थितियाँ हैं उसी प्रकार सामाजिक विघटन की भी कई स्थितियाँ हैं। जब समाज में परिवर्तन आता ह ै तो उसके फलस्वरूप सामाजिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं और तब कहा जा सकता है कि कुछ न कुछ अंशों में सामाजिक विघटन आ रहा है। सामाजिक विघटन का अर्थ है कि सामाजिक संघटन में कुछ न कुछ टूट–फूट और कमी होना और यह केवल सामाजिक परिवर्तन से आती है।

इलियट और मैरिल (1974) के शब्दों में, सामाजिक विघटन सामाजिक सन्तुलन के बिगडने का, पुराने सामाजिक स्वरूप के नष्ट होने का प्रतिनिधित्व करता है जिसके कारण पुरानी आदतें और सामाजिक नियत्रं ण के साधन प्रभावपूर्ण रू प से काम नहीं कर पाते।

डॉ0 मारर (1964) ने सामाजिक विघटन की परिभाषा देते हुए कहा है कि सामाजिक संघटन व्यक्तियों के सहयोगपूर्ण व्यवहारों से बनता है। प्रथाओं और सामाजिक नियन्त्रण के फलस्वरूप व्यक्तियों के सहयोगपूर्ण व्यवहारों से सामाजिक संघटन बनता है, संस्कृति में एसे ा कोई परिवर्तन जो समाज के कार्यों और उसके सहयागे में बाधा डालता है या उसको नष्ट करता है तो वह सामाजिक परिवर्तन सामाजिक विघटन का प्रतिनिधित्व करता है।

बाल अपराधः एक सामाजिक समस्या

बाल अपराध के प्रति समकालीन समाज में जो चिन्ता व्यक्त की जाती है वह आ िशक रूप में केवल इस बात की ओर संकेत करती है कि बाल अपराध अपराधों की ओर ले जाते हैं तथा व्यक्तिगत सुरक्षा और सम्पत्ति सुरक्षा को खतरा पैदा करते हैं। यह उस भय की ओर संकेत है कि समाज अपने नवयुवकों में उचित सामाजिक मूल्यों को हस्तान्तरित करने में असफल सिद्ध हो रहा है। सामाजिक समस्याएं नगरीकरण, औद्योगिकरण, पौद्योगिकीय विकास, जैसे प्रभावकों से प्रभावित होती है। सांस्कृतिक जटिलताओं, अत्यधिक गतिशीलता और सामाजिक अलगाव आदि भी सामाजिक समस्याओं को नई दिशा प्रदान करती है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम सामाजिक परिवर्तन के तत्वों को ध्यान में रखकर, विज्ञान, प्रौद्यो िगकी तथा आविष्कार की आवश्यकताओं तथा इनके समाज पर प्रभावों को अपने विश्लेषण का अंग बनाकर सामाजिक प्रगति एवं विकास की प्रत्येक अवस्था को पुनर्व्यवस्थित करते रहने के कार्य में सतत् लगे रहें।

References :

1. Ackoff, R.L. (1953): The Design of Social Research, Chicago University, Chieago.
2. Andrew, J.M. (1976): 'Delinquency, sex and family variables' Social Biology
3. Bailey, Kenneth D. (1978): Methods of Social Research, London: The Free press.
4. Bedi, M.S. (1989): 'Juvenile delinquency: causes and control' Social Defence.
5. Bhatia, V.B. (1960): 'Ecological study of the Juvenile delinquents and young offenders in the city of Lucknow' Journal of social science.
6. Bhattacharya, S.K. (1976): 'Juvenile delinquency Its Prevention and cure' Social Defense.
7. Das Gupta, S and Jayshree, M. (1981): 'Some environmental and personal factors among delinquents' Indian Journal of Crimminalogy and Criminalistics.

8. Daraiswami, K. (1940): 'A study of 100 cases of juvenile delinquency in the city of Madras', The Indian Journal of social work.
9. Gupta, M. and Gupta, P. (1978): 'Intelligence and delinquent tendencies', Social Welfare.
10. Goyal, S.L. & Jain, R.K. (1988): Social Welfare Administration, New Delhi, Deep & Deep.
11. Khan, I.A., Khan, A.A. and Hussain, M.M. (1982): 'An Inventory for Juvenile delinguency', Indian Journal of Criminology
12. Krishna, K.P. (1981): 'Adjustment problems among truants', Indian Journal of Criminology
13. Misra, B.N. (1981): Juvenile Delinquency and Justice system, New Delhi Ashish publishing House.
14. Mukherjee, R. (1979): 'Juvenile delinquency in changing city', Indian Journal of criminology.
15. Mukhopadhyaya, S. (1953): 'Juvenile delinquency in Calcutta', Man in India.
16. Shukla, K.S. (1977): 'Adolescent thieves: Family Structure', Indian Journal of Social Work.
17. Shukla, K.S. (1983): 'Juvenile delinquency and parental roles', Indian Journal of criminology and criminlistics.
18. Singh, B. (1979): ' Juvenile delinquency causes and remedies' Social Welfare.
19. Srivastava, S.P. (1989): Juvenile Justice in India policy, programme and perspectives. Delhi-Ajanta publication.
20. Srivastava, S.S. (1963): Juvenile vagrancy: A socio-Ecological study of Juvenile vagrants in the cities of Kanpur and Lucknow. Bombay: Asia Publishing House.
21. Shah, V.F. (1977): Research Design, Ahamdabad Rachna Prakashan.
22. Varma, M. (1980): 'Socio-Economic factors and development of aggression in children', Social Change.
23. Vamra, S.C. (1970): The young Delinquents, A Sociological Inquiry, Lucknow: Pustak Kendra

नंदाणिया परबत वीरा.
बी.ए., बी.एड., एम.ए., एम.फिल.